णमो लोए सव्व साहूणं

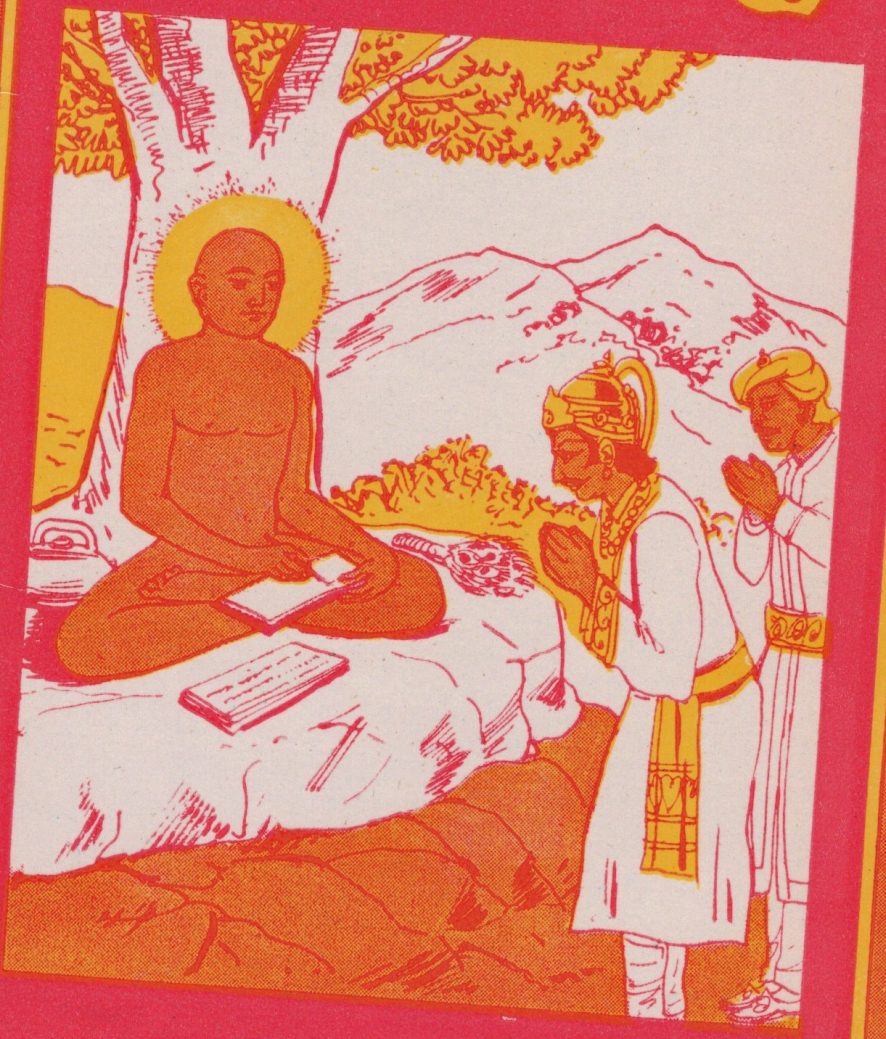

नेमीचन्द पाटनी

अपनी बात

(तृतीय संस्करण)

प्रस्तुत पुस्तिका "णमो लोए सव्व साहूणं" का यह तृतीय संस्करण आपके समक्ष प्रस्तुत है। इस पुस्तिका में प्रकाशित सामग्री पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति काल में ही बहुत वर्षों पहले ही तैयार की गई थी तथा आदरणीय पंडित श्री हिम्मतलालजी जेठालाल शाह, सोनगढ़ द्वारा संशोधित की जाकर जैनपत्रों में लेखों के माध्यम से प्रकाशित भी हो चुकी थी। कुछ आत्मार्थी बन्धुओं का आग्रह रहा कि यह सामग्री साहित्य के रूप में प्रकाशित हो जावे तो विशेष लाभ का कारण हो, इस आशय से उन लेखों को जैसा का तैसा मात्र ३२०० की संख्या में प्रकाशित करा दिया गया, लेकिन यह संस्करण बहुत जल्दी ही समाप्त हो जाने से पुनः प्रकाशन कराने की आवश्यकता प्रतीत होने पर इसमें आवश्यक परिवर्धन कर इसको साहित्य के रूप में पढ़ा जाने योग्य तैयार कर पुनः ५००० प्रकाशित कराया है, लेकिन नाम परिवर्तन नहीं किया गया है। अब यह तृतीय संस्करण टाइपसैटिंग कराकर ऑफसैट पद्धति से प्रकाशित किया गया है। अतः जिन आत्मार्थी बन्धुओं ने यह पुस्तिका पहिले पढ़ ली हो उनसे आग्रहपूर्वक निवेदन है कि वे यह परिवर्धित संस्करण अवश्य पढ़ें।

मैंने इसके पूर्व एक पुस्तिका "पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक एवं उसकी ग्यारह प्रतिमाएं" नाम से लिखी थी जो सन् १९७२ में सर्वप्रथम प्रकाशित हो चुकी है। इस प्रकार मोक्षमार्ग के माध्यम-अन्तर-आत्मा एवं उत्तम अन्तर आत्मा का चरित्र-चित्रण तो आ गया है, लेकिन जघन्य अन्तर आत्मा का स्वरूप एवं उसे प्राप्त करने का उपाय लिखने की भावना थी। उसी भावना के फलस्वरूप जघन्य अन्तरात्मा बनने के उपाय के रूप में सुखी होने का उपाय पुस्तक ३ भागों में प्रकाशित हो चुकी है, चतुर्थ भाग अभी प्रकाशन होना शेष है।उपरोक्त

पुस्तकें भी काफी लोकप्रिय हुई है, प्रथम भाग का तो द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है।

इनके भी पूर्व छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में (१) निमित्त-नैमित्तिक संबंध क्या है (२) शास्त्रों के अर्थ करने की पद्धति (३) तत्त्वनिर्णय ही मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ है– आदि प्रकाशित हो चुकी हैं। उन सबको एक साथ मिलाकर भी प्रकाशित करने की भावना है।

उपरोक्त सभी पुस्तिकाएँ पूज्य गुरुदेवश्री के समक्ष प्रकाशित हो चुकी हैं एवं उन सबको पूज्य गुरुदेवश्री का अनुमोदन प्राप्त है, अतः आत्मार्थी बन्धुओं को उन सब पुस्तिकाओं के द्वारा सच्चा मार्ग समझ कर मोक्षमार्ग में अग्रसर होना चाहिये–यही मेरी भावना है।

मेरे जीवन में जो कुछ भी प्राप्त हुआ है, वह सब पूज्य गुरुदेवश्री की ही देन है और यही भावना करता हूँ कि उनके बताये मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ इस जीवन काल के अन्तिम क्षण पूर्ण कर आगामी भव में उनके चरणसान्निध्य को प्राप्त कर चरम लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करूँ।

– नेमीचन्द पाटनी

णमो लोए सव्व साहूणं

"णमो लोए सव्व साहूणं" पाठ णमोकार मंत्र का अन्तिम पद है। इसके द्वारा लोक में विराजमान सभी साधु परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। णमोकार मन्त्र समस्त जैन सम्प्रदायों में निर्विवाद रूप से सर्वोत्कृष्ट माना जाने वाला मन्त्र है। मोक्षार्थी जीव को प्राप्तव्य एवं आदर्श दशा अरहंत एवं सिद्ध परमेष्ठी है, तथा साधक दशा के रूप स्वरूप आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी है। इसलिए मोक्षमार्गी जीव को उपरोक्त पाँचों से उत्कृष्ट कोई कुछ भी नहीं होने से इन पाँचों को परमेष्ठी रूप माना एवं स्मरण किया जाता है।

चत्तारि मंगलं आदि पाठ में भी अरहंत, सिद्ध, सांधु एवं जिन-धर्म इन चारों को ही सर्वोत्कृष्ट मंगलस्वरूप, लोक में उत्तम स्वरूप एवं चार ही शरण रूप लिये गये हैं। इसमें साधु परमेष्ठी में आचार्य उपाध्याय, साधु तीनों का समावेश करके "साहू शरणं पव्वज्जामि" पाठ लिया गया है। अतः हम मोक्षार्थी प्राणियों को अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप समझकर उनको आदर्श बनाकर साधु परमेष्ठी के यथार्थ स्वरूप को समझकर उस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। गाथा प्रवचनसार ८० में कहा भी गया है कि :-

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

जो भगवान अरहंत को द्रव्य रूप से, गुण रूप से, पर्याय रूप से जानता है, वह अपनी आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि मोक्षार्थी को प्राप्तव्य दशा एक मात्र अरहंत दशा ही है। उसको प्राप्त करने के लिए उनके स्वरूप को समझकर उनको आदर्श बनाकर जो वीतरागता का मार्ग साधु परमेष्ठी भगवान ने स्वीकार कर उसपर आचरण किया, उसी प्रकार भगवान बनने के लिए मुझे भी वही मार्ग

अपनाना चाहिए, ऐसा विचार कर मोक्षार्थी जीव भगवान (साधु परमेष्ठी) का स्वरूप जानने के लिए जिज्ञासु होकर सर्वप्रथम "णमो लोए सव्व साहूणं" पद के द्वारा मंगलाचरण पूर्वक लोक में विराजमान सभी साधु परमेष्ठियों को नमस्कार करते हैं।

साधु परमेष्ठियों में सर्वोत्कृष्ट पद को प्राप्त ऐसे गणधर देव भी जब-जब णमोकार मंत्र का उच्चारण करते हैं तो वे भी णमो लोए सव्व साहूणं पद के द्वारा लोक में विराजमान सभी साधु परमेष्ठियों को नमस्कार करते हैं। जो साधु पद गणधर देव के द्वारा भी नमस्कृत्य हो, उस पद का स्वरूप कैसा होगा, यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है और होना भी चाहिए। अत: साधु परमेष्ठी का यथार्थ स्वरूप समझना जैन मात्र के लिए आवश्यक कर्तव्य है, ऐसे मुनिराज को जो परमेष्ठी पद में विराजमान हैं, उन्हें वंदन, आराधन योग्य न माने, वह तो जैन कहलाने का भी अधिकारी नहीं है; क्योंकि धर्म के मूल तो पंचपरमेष्ठी ही हैं। उनका आराधक ही सच्चा जैन होता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि तो नित्य ऐसी भावना भाता है कि-

कब गृहवास सों उदास होय वन सेऊं,
बेऊं निजरूप गति रोकूं मनकरी की।
रहिहों अडोल एक आसन अचल अंग,
सहिहों परीषह शीत धाम मेघझरी की॥
सारंग समाज खाज कबधौं खुजेहै आनि,
ध्यानदल जीतूं सेना मोहअरी की।
एकलविहारी यथाजात लिंगधारी, कबहोऊं,
इच्छाचारी बलिहारी हो वा घरी की॥

जिस प्राणी को धर्म करना है, वह जीव चाहे सम्यग्दृष्टि हो अथवा सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पुरुषार्थी हो, वह समझता है कि धर्म तो मात्र

वीतरागता ही है, इसलिए वीतरागता की पूर्णता जिसमें है वह आराध्य देव हैं, और वीतरागता के प्रतिपादक ही सच्चे शास्त्र हैं, तथा वीतरागता में प्रवृत्ति करने वाले ही सच्चे साधु अर्थात् मुनि हैं। इन्हीं की मुख्यता से वह सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का ही उपासक होता है। उन्हीं की भक्ति वन्दना, पूजा आदि करता है। जिनमें उपरोक्त गुण (वीतरागता) न हो, वे पुण्य उदय के कारण चाहे जैसे भी अनेक बाहरी विशेषताओं सहित हों, तो भी सच्चे जैन के हृदय में उनके प्रति किंचित् मात्र भी भक्तिभाव उत्पन्न नहीं होता।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा भी है कि—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।

प्रणामं विनयं चैव न कुर्यः शुद्ध दृष्टयः॥ ३०॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा, स्नेह व लोभ से भी किसी ऐसे देव, शास्त्र एवं साधु की विनय, प्रणाम, नमस्कार आदि नहीं करता, जिसमें सच्चे साधु के बाह्य लक्षण भी न हों।

धर्म तो अपने कल्याण के लिए है, जो यथार्थ रूप से पालन करेगा उसका कल्याण होगा, जो उल्टा करेगा, विपरीत दृष्टि रखेगा उसका अकल्याण होगा। इसकी जिम्मेदारी उसकी स्वयं की है, अन्य को इससे क्या ? ऐसा समझकर वह किसी अयथार्थ साधु की टीका-टिप्पणी या अपमान, तिरस्कार आदि भी नहीं करता एवं मानता है कि हमें तो अपनी समझ सच्ची व स्पष्ट करने के लिए सच्चे वीतरागी साधु का स्वरूप समझना है।

अन्तरंग मुनिदशा-

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने प्रवचनसार गाथा २४१की टीका में मुनि का लक्षण निम्न प्रकार किया है :-

"संयमः सम्यग्दर्शनज्ञानपुरःसरं चारित्रं, चारित्रं धर्मः, धर्मः साम्यं, साम्यं मोहक्षोभविहीनः आत्मपरिणामः। ततः संयतस्य साम्यं लक्षणम्।"

अपनाना चाहिए, ऐसा विचार कर मोक्षार्थी जीव भगवान (साधु परमेष्ठी) का

अर्थ :- संयम, सम्यग्दर्शन-ज्ञान पूर्वक चारित्र है, चारित्र धर्म है, धर्म साम्य है, साम्य मोहक्षोभविहीन आत्मपरिणाम है। इसलिए संयत का लक्षण साम्य है।

लक्षण उसे कहते हैं, जो लक्ष्य को प्रसिद्ध करे अर्थात् लक्ष्य में रहे और अलक्ष्य में नहीं रहे तथा लक्ष्य भी लक्षण के बिना नहीं रहे। अतः संयत, श्रमण, साधु अथवा मुनि का उपरोक्त गाथा की टीका में वर्णित लक्षण, जो आचार्य महाराज ने बताया है, ऐसे स्वरूप के साधक ही साधु परमेष्ठी में सम्मिलित होने योग्य हैं और उन्हीं को गणधर देव भी नमस्कार करते हैं। उन समस्त साधुओं में चाहे वे विदेह क्षेत्र के हों, भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्र के या चतुर्थ काल के मुनि हों, अथवा पंचम काल के मुनि हों; सबमें उपरोक्त लक्षण तो निर्विवाद रूप से होता ही है, तब ही वे साधु परमेष्ठी में सम्मिलित होते हैं और वे ही हमारे आराध्य निर्ग्रन्थ गुरु हैं।

आगे प्रवचनसार गाथा २०५-२०६ में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने मुनि के (लिंग) चिन्हों का वर्णन करते हुए, मुनिराज को पहिचानने के अंतरंग और बहिरंग चिन्ह बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं :-

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमं सुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोग सुद्धीहिं।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं॥

अर्थ :- जन्म समय के रूप जैसा यथाजात रूपवाला, सिर और दाढ़ी-मूछ के बालों का लोंच किया हुआ, शुद्ध (अकिंचन) हिंसादि से रहित और प्रतिकर्म (शारीरिक श्रृंगार) से रहित लिंग (श्रामण्य का बहिरंग चिन्ह) है।

मूर्छा (ममत्व) और आरम्भ रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त तथा पर की अपेक्षारहित ऐसा जिनेन्द्रदेव कथित श्रामण्य का अंतरंग लिंग है। जो कि मोक्ष का कारण है।

इस प्रकार उपरोक्त गाथा २४१ की टीका में वर्णित लक्षण वाले मुनिराज अंतरंग व बहिरंग लिंगों से युक्त होते ही हैं एवं इसके कारण ही साधक द्वारा पहिचाने जाते हैं।

किसी का प्रश्न हो सकता है कि कुन्दकुन्द आचार्यदेव ने गाथा में अंतरंग-बहिरंग के भेद कहाँ किये ?

समाधान यह है कि इसी गाथा की टीका लिखते हुए भगवान अमृतचन्द्राचार्य ने गाथा के अर्थ को खोला है, वहाँ लिंग के दो भेद करके उन्होंने समझाया है।

उपरोक्त गाथा में वर्णित अंतरंग लिंग के वर्णन में मूर्छा और आरम्भ का अभाव होना बताया है, उनका लक्षण प्रवचनसार ग्रन्थ की २२१वीं गाथा की टीका में अमृतचन्द्राचार्य देव ने इस प्रकार समझाया है कि- "उपधि के सद्भाव में (१) ममत्व परिणाम जिसका लक्षण हो ऐसी मूर्छा तथा (२) उपधि संबंधी कर्मप्रक्रम (काम की व्यवस्था) का परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा आरंभ।"

उपरोक्त कथन द्वारा आचार्य महाराज ने मुनिराज को जिनका लक्षण प्रवचनसार गाथा २४१ में "साम्य" बताया है, उनको पहचानने के लिए इसी गाथा की २०५ व २०६वीं गाथा में उपरोक्त लिंग (चिन्ह) बताये हैं एवं २२१वीं गाथा में जो कार्य साधु को निषेध्य (वर्जनीय) हैं, उनका वर्णन किया है। उन चिन्हों के द्वारा साधु परमेष्ठी मुनिराज को यथार्थ जानकर उनकी गुणाढ्यता के कारण धर्मात्मा को उनके प्रति सहज भक्ति आदि बहुमान का भाव आये बिना रह ही नहीं सकता।

उपरोक्त बहिरंग एवं अंतरंग लिंगों में से बहिरंग लिंग तो मुनिराज को भी बिना किसी प्रयत्न के सहज ख्याल में रहता है, लेकिन साम्यभावरूप अंतरंग

लिंग, जो कि मुख्य है, जिसके बिना श्रामण्यपना ही संभव नहीं है, उसकी न तो श्रमण को ही मुख्यता ख्याल में आती है और न मानने वाले (पहचानने वाले) को भी ख्याल आता है। अतः अंतरंग लिंग के अभाव में वर्तने वाले परिणाम को चरणानुयोग विहित मार्ग के द्वारा मिलान करने से ही स्वयं की भूल स्वयं की पकड़ में आ सकती है एवं अन्य अभ्यासी आत्मार्थी को भी ख्याल में आ सकती है।

मुनिराज के लिए तो परपदार्थ, ज्ञेयमात्र के प्रति भी ममत्व-परिणाम, मूर्छापरिणाम निषेध्य है। यही कारण है कि मुनिराज को २८ मूल गुणों में से केशलुंचन, नग्नता, अस्नानता, अदंतधोवन, भूशयन एक भुक्ति, खड़े-खड़े आहार- इस प्रकार ७ मूलगुण तो शरीर के प्रति ममत्व परिणाम के अभाव में सहज वर्तते हैं तथा पंच समिति व पंच इन्द्रियजय नाम के १० मूलगुण तो मुख्यतया देह के प्रति निर्ममत्व भाव से ही सिद्ध होते हैं तथा पंच महाव्रत पंच पाप रूप अशुभ के अभाव की मुख्यता से एवं छह आवश्यक आत्मा में रमणतालीनता की मुख्यता से कहे गये हैं। इससे स्पष्ट है कि मुनि को तो शरीर के प्रति भी पर होने से ममत्व भाव नहीं रहता, तब फिर शरीर से सम्बन्धित तथा असम्बन्धित अन्य परिकर में ममत्व परिणामस्वरूप उपयोग एवं योग की अशुद्धि, मुनित्व के अंतरंग लिंग का अभाव कैसे नहीं सिद्ध करेगा ? अवश्य करेगा। इसी कारण आचार्य महाराज ने गाथा २०५-२०६ की टीका में मात्र मूर्छा (ममत्व) एवं आरम्भ रहित उपयोग की शुद्धि से युक्त अंतरंग लिंग लिखा है, अर्थात् ममत्व एवं आरंभ सहित योग एवं उपयोग की अशुद्धि मुनिदशा के अयोग्य है।

मात्र यह मान लेना पर्याप्त नहीं है कि नग्न हो जाने से ही शरीर के प्रति ममत्व भाव छूट गया है, लेकिन साथ ही शरीर और शरीर से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं व कार्यों के प्रति अपेक्षाभाव, अनुमोदनाभाव एवं करानेरूप भाव तत्सम्बन्धित वचनक्रिया एवं तत्सम्बन्धित कार्य क्रिया का भी अभाव वर्तना ही चाहिए तथा अपने अनुकूल वर्तने वालों के प्रति प्रशंसा के भाव एवं विपरीत

वर्तने वाले के प्रति अप्रशंसा एवं निन्दा के भाव भी सहज रूप से नहीं रहना चाहिए। इसी के द्वारा स्वयं को एवं पर को भी यह ज्ञान हो सकता है कि मुनिराज का उपयोग एवं योग, ममत्व परिणाम रहित है और शुद्ध है, और यही अंतरंग लिंग का एक प्रकार है।

अंतरंग लिंग (चिन्ह) का दूसरा प्रकार आचार्य महाराज ने उपरोक्त गाथा २०६ व २२१ की टीका में कहा है- "आरंभरहित उपयोग योग की शुद्धि से युक्त" इसके सम्बन्ध में भी थोड़ी गम्भीर विचारणा आवश्यक है, स्थूल रूप से आरम्भ का अर्थ यह ही निकाल लिया जाता है कि किसी कार्य को प्रारम्भ करने का नाम ही आरम्भ है, अतः मुनिराज स्वयं किसी कार्य को करते ही नहीं हैं अतः वे आरंभ रहित ही हैं। लेकिन यहाँ पर आचार्य महाराज ने मुनि के सम्बन्ध में आरम्भ का अर्थ प्रवचनसार गाथा 221 में यह बताया है कि "उपधि वह एकान्तिक अंतरंग छेद है"- "कर्मप्रक्रम (कार्ययुक्त होने) का परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा आरम्भ अवश्यमेव होता ही है।" इसका अर्थ यह है कि- मुनिधर्म के लिए सभी उपधि निषिद्ध है क्योंकि सामग्री की व्यवस्था के परिणाम को ही आरम्भ कहा है तथा श्रमण के लिए अनिषिद्ध उपधि तो मात्र शरीर एवं तत्सम्बन्धी शुद्धि व संयम के उपकरणरूप पिच्छी एवं कमंडलु मात्र ही हैं तथा ज्ञान-ध्यान के हेतुभूत आहार, उपदेश आदि के भाव भी अंतरंग उपधि हैं, इन सम्बन्धी व्यवस्था के परिणाम रहित उपयोग एवं योग की शुद्धि से युक्तिपना मुनिराज का अन्तरंग लिंग है।

इससे फलितार्थ यह निकलता है कि मुनिराज को उपरोक्त अनिषिद्ध उपधि भी वास्तव में उपाधि ही है ऐसी स्थिति में अन्य किसी भी कार्य को करने या करवाने की जिम्मेदारी लेना अन्तरंग लिंग का अभाव ही सिद्ध करेगा।

अन्तरंग लिंग का तीसरा प्रकार है 'पर की अपेक्षा रहित' इसके सम्बन्ध में मुनि अवस्था की अन्तरंग भूमिका अर्थात् साम्य लक्षण के सम्बन्ध में थोड़ी गवेषणा आवश्यक है। मुनिराज तो सम्यग्दर्शन के साथ-साथ तीन कषायों के अभावात्मक उत्कृष्टचारित्रदशा को प्राप्त होते हैं, फलतः निरन्तर अनवरत रूप

लिंग, जो कि मुख्य है, जिसके बिना श्रामण्यपना ही संभव नहीं है, उसकी न तो श्रमण को ही मुख्यता ख्याल में आती है और न मानने वाले (पहचानने

से क्षण-क्षण में उनका अप्रमत्तदशा और प्रमत्तदशा में उपयोग परिवर्तित होता ही रहता है। साधक जीव को इस उत्कृष्ट दशा को प्राप्त कराने का मूल श्रेय तो सम्यग्दर्शन को ही है। सम्यग्दर्शन होते ही इस आत्मा को अपने ज्ञायक स्वभावी आत्मा के साथ अहंपना रूप एवं जगत के सभी पदार्थों का अपने से अभावात्मक परपना रूप, मात्र ज्ञेय-ज्ञायकरूप सम्बन्ध होने पर भी व्यवहार से है, ऐसी श्रद्धा प्रगट हो जाती है। अभिप्राय में तो उसको पर पदार्थों के प्रति उपेक्षा बुद्धि और मात्र अपनी ज्ञायक स्वभावी आत्मा की अपेक्षा बुद्धि सम्यग्दर्शन के साथ ही प्रगट हो जाती है, लेकिन मुनिराज को तो तीन कषायों का अभाव हो जाने से तथा अन्तर्मुहूर्त में अप्रमत्तदशारूप निर्विकल्प उपयोग द्वारा आत्मानन्द का साक्षात् स्वाद लेने रूप आत्मानुभूति बर्तती है। लेकिन अपनी सामर्थ्य की कमी के कारण जब वही शुद्धोपयोगी आत्मा प्रमत्तदशारूप सविकल्पदशा में आ जाता है, तो भी उन मुनिराज को सहजरूप से एकमात्र आत्मस्वरूप की ही अपेक्षा वर्तती रहने के कारण पर के प्रति बिना कोई प्रयत्न (हठ) के सहजरूप से उपेक्षा वर्तती ही रहती है- ऐसी दशा ही साम्य है, यही मुनिराज का उपरोक्त कहा हुआ लक्षण है, क्योंकि आत्मा के स्वरूप के अतिरिक्त अन्य जो भी ज्ञेय हैं, वे सब "परज्ञेय" हैं। अत: ज्ञेय में कोई असाम्यपना हो ही नहीं सकता और जानने में भी असाम्यपना नहीं हो सकता क्योंकि जानने में भी असाम्यपना, तीन कषायों का अभाव हो जाने से रहा ही नहीं। अत: मुनिराज को साम्यलक्षण व अन्तरंग लिंग इस प्रकार दोनों सिद्ध होते हैं।

यहाँ कोई कहे कि लिंग (चिन्ह) तो पहचानने के लिए होते हैं तो उपरोक्त "पर की अपेक्षा रहित" पना कैसे पहचानने में आवे ? समाधान यह है कि जिनको पर की अपेक्षा नहीं होगी, उन मुनिराज को निन्दक और प्रशंसक, श्रीमान् और दरिद्र किसी भी प्रकार की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता, आहार का मिलना या न मिलना यश अथवा अपयश आदि सभी प्रसंगों में वे प्रसंग सहजरूप से (बिना हठ के) इष्ट-अनिष्ट प्रतिभासित नहीं होकर मात्र ज्ञेयरूप से प्रतिभासित होने के कारण उनमें अत्यन्त उपेक्षा वर्तती है। अत: ऐसी दशा से

ही उनको अन्तरंग लिंग का तीसरा प्रकार परकी अपेक्षा रहितपना भी है- ऐसा सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार हमको अपनी श्रद्धा यथार्थ करने के लिए "णमो लोए सव्व साहूणं" के द्वारा नित्य वंदने योग्य मुनिराज का स्वरूप समझकर ऐसे साधु की उपासना करनी चाहिये।

यथार्थ मुनिदशा में निश्चय व्यवहार का सुमेल

अन्तर्बाह्य समस्त परिग्रह से रहित, छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलने वाले, अट्ठाईस मूलगुणों एवं उनके उत्तर गुणों के निरतिचार पालन करने वाले वीतरागी दिगम्बर मुद्रा के धारी मुनिराज ही साधु परमेष्ठी कहलाते हैं।

आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी ने प्रथम अधिकार में साधु का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया है :-

"जो विरागी होकर, समस्त परिग्रह का त्याग करके शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म अंगीकार करके अन्तरंग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा अपने को आप रूप अनुभव करते हैं, परद्रव्य में अहंबुद्धि धारण नहीं करते तथा अपने ज्ञानादिक स्वभाव ही को अपना मानते हैं, परभावों में ममत्व नहीं करते, तथा परद्रव्य व उनके स्वभाव ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं, उन्हें जानते तो हैं परन्तु इष्ट-अनिष्ट मानकर उनमें राग-द्वेष नहीं करते। शरीर की अनेक अवस्थायें होती हैं, बाह्य नाना निमित्त बनते हैं, परन्तु वहाँ कुछ भी सुख-दुःख नहीं मानते तथा अपने योग्य बाह्य क्रिया जैसे बनती है, वैसे बनती है, खींचकर उनको नहीं करते तथा अपने उपयोग को अधिक नहीं भ्रमाते हैं, उदासीन होकर निश्चल वृत्ति को धारण करते हैं तथा कदाचित् मंदराग के उदय से शुभोपयोग भी होता है, उससे जो शुद्धोपयोग के बाह्य साधन हैं उनमें अनुराग करते हैं, परन्तु उस राग-भाव को हेय जानकर दूर रहना चाहते हैं, तथा तीव्र कषाय के उदय का अभाव होने से हिंसादिरूप अशुभोपयोग परिणति का तो अस्तित्व ही नहीं रहा है, तथा ऐसी अन्तरंग अवस्था होने पर बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं,

शरीर का संवारना आदि विक्रियाओं से रहित हुए हैं, वनखण्डादि में वास करते हैं, अट्ठाईस मूलगुणों का अखण्डित पालन करते हैं, बारह प्रकार के तपों को आदरते हैं, कदाचित् ध्यान मुद्रा धारण करके प्रतिमावत् निश्चल होते हैं, कदाचित्, अध्ययनादि बाह्य धर्म क्रियाओं में प्रवर्तते हैं, कदाचित् मुनि धर्म के सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु योग्य आहार-विहारादि क्रियाओं में सावधान होते हैं, ऐसे जैन मुनि हैं उन सबकी ऐसी ही अवस्था होती है।"

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि या पंचम गुणस्थानवर्ती देशव्रती ज्ञानी श्रावक ही मुनिदशा प्राप्त करने का अधिकारी होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति संभव नहीं है।

पंचम गुणस्थानवर्ती ज्ञानी श्रावक के नित्य वृद्धिगत स्वरूप स्थिरता के फलस्वरूप ग्यारह प्रतिमायें होती हैं (जिनका वर्णन पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक एवं उनकी ग्यारह प्रतिमायें नामक पुस्तिका में विस्तार से किया गया है।)

चतुर्थ या पंचम गुणस्थानवर्ती ज्ञानी श्रावक को ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा के आश्रय से जब आत्मतल्लीनता विशेष बढ़ जाती है, तब वह मुनिदशा प्राप्त करने के सन्मुख होता है।

मुनि बनने से पूर्व अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्रादि से अनुमति प्राप्त कर आचार्य महाराज के पास जाकर दीक्षित होने की प्रार्थना करता है। इसका उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में इस प्रकार किया है :-

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं॥ २०२॥

बन्धु वर्ग से पूँछकर अर्थात् बिदा मांगकर बडों से, माता-पिता, स्त्री-पुत्र से मुक्त हुआ वह श्रामण्यार्थी, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार को अंगीकार करता है।

उसके बाद आचार्य, श्रामण्यार्थी द्वारा सविनय बारबार प्रार्थना करने पर उसकी पात्रता की अच्छी तरह परीक्षा कर संतुष्ट होने पर उसकी प्रार्थना स्वीकार कर उसे दीक्षित करते हैं। तब वह दीक्षार्थी समस्त परिग्रह को त्याग कर यथाजात नग्न दिगम्बर रूप धारण करता है। समस्त वस्त्राभूषणों को पूर्णतः परित्याग कर देता है। दाढ़ी, मूंछ, सिर आदि के केशों का लुंचन करता है, समस्त अंतरंग एवं बहिरंग परिग्रह का पूर्णतः त्याग कर उपयोग और योग की शुद्धिपूर्वक आत्मा में एकाग्र हो लीन हो जाता है तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव एवं संज्वलन कषाय के मन्दोदय की स्थिति में सप्तम गुणस्थान होता है। बाद में अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही स्वयं के पुरुषार्थ की उग्रता की कमी के कारण संज्वलन कषाय के तीव्र उदय में जब ध्यान भंग होता है तो छठवें गुणस्थान में आ जाता है।

छठवें-सातवें गुणस्थानरूप मुनिदशा नग्न दिगम्बर दशा में ही प्राप्त होती है। जिन मुनिराजों ने श्रेणी का आरोहण नहीं किया है, उनके हर अन्तर्मुहूर्त में छठवें से सातवें और सातवें से छठवें गुणस्थान में निरन्तर आना-जाना बना ही रहता है।

यदि उक्त भावलिंगी मुनिराज को अन्दर में ध्रुव आत्मतत्व की रुचि हटकर बाह्य संयोग अथवा विकल्प रूपी शुभभाव के प्रति जरा भी रुचि हो जावे तो उसे अप्रमत्त दशा नहीं आ सकती और वे मुनिदशा से च्युत हो जाते हैं, अर्थात् उनको छठा गुणस्थान भी नहीं रहता। चाहे वे वस्त्रादिक से रहित हों तथा २८ मूलगुणों के शुभ विकल्प एवं तत्सम्बन्धी क्रियाओं को पूर्णरूप से प्रतिपालन भी क्यों न कर रहे हों, तथापि उनकी भावलिंग मुनिदशा नहीं रहती।

उक्त सारे कथन का तात्पर्य यह है कि मात्र वस्त्रादिक के त्याग में तथा २८ मूलगुणों के शुभ विकल्पों में एवं तत्सम्बन्धी शुभ क्रियाओं में मुनिदशा

नहीं है, वरन् शास्त्र विहित अन्तर्मुहूर्त काल के अन्दर अप्रमत्त दशा और प्रमत्तदशा में निरन्तर झूलते रहने की दशा ही यथार्थ भावलिंगी मुनिदशा है।

उक्त दशा में स्थित मुनिराजों को समय-समय पर २८ मूलगुण सम्बन्धी विकल्प भी उठते हैं, लेकिन उनकी उक्त विकल्पों के प्रति किंचित मात्र भी रुचि-उत्साह नहीं होता, वरन् अप्रमत्त दशा के आत्मानन्द का बाधक होने से उक्त विकल्प श्रद्धा में हेय ही प्रतीत होता है, लेकिन मुनिराज अपनी कमजोरी को भी जानते हैं और यह भी जानते हैं कि चरणानुयोग में विहित २८ मूलगुणों के विकल्प आ जाने से अप्रमत्त दशा तो नहीं रहती, लेकिन मुनिदशा का अभाव भी नहीं हो जाता अर्थात् प्रमत्तसंयत दशा बनी रहती है, इसलिए उस प्रमत्तसंयत दशा में उठने वाले २८ मूलगुणों सम्बन्धी विकल्प निश्चयचारित्र के सहचारी (साथ वर्तने वाले) होने से व्यवहारचारित्र भी कहे गये हैं एवं तदनुकूल बाह्य क्रियायें जो कि परद्रव्य सम्बन्धी क्रियाये होने से यथार्थ में तो आत्मा का व्यवहार भी नहीं हो सकतीं, फिर भी व्यवहारचारित्र का निमित्त होने से उन्हें भी व्यवहारचारित्र कहा गया है।

इन सबका यथार्थ ज्ञान होने से मुनिराज २८ मूलगुणों सम्बन्धी विकल्पों के सद्भाव से घबड़ाते भी नहीं और उनके प्रति रुचिवान भी नहीं होते हैं, इन विकल्पों के अतिरिक्त उन्हें अन्य किसी प्रकार के शुभा-शुभ विकल्प नहीं आते। इसी कारण चरणानुयोग विहित बाह्याचार सहज ही (बिना हठ के) पल जाते हैं। यही सच्ची भावलिंगी मुनिराज के निश्चय-व्यवहार की मैत्री है। किसी काल में अपने पुरुषार्थ की किंचित शिथिलता के कारण कोई अतिचार रूप विकल्प आ जावे तो चरणानुयोग के यथार्थ जानकार होने से मुनिराज उस विकल्प को पहचानकर गुरु के निकट आलोचनादि करके पुनः पुरुषार्थ की उग्रता से अपने आपको उपस्थापन कर लेते हैं। यदि वे मुनिराज उन अतिचारादि के विकल्पों के प्रति लापरवाही बर्तें तो वही वृत्ति अनाचार कहलाती है और

वह लाएरवाही मुनिदशा का घात कर देती है अर्थात् फिर सच्ची मुनिदशा नहीं रहती।

यही यथार्थ निश्चय-व्यवहार की सन्धि है और इस ही अपेक्षा व्यवहार को निश्चय का साधक भी कह दिया जाता है तथा सहचर या सहकारी भाव तथा परम्परा मोक्ष का कारण कहने की भी शास्त्रों में पद्धति है।

तीन कषाय के अभाव रूप वीतराग परिणति ही निश्चय-चारित्र है। उसके साथ वर्तने वाले २८ मूलगुण आदि सम्बन्धी शुभभाव, हैं तो आस्रवभाव, लेकिन निश्चयचारित्र के सहचारी होने से व्यवहारचारित्र कहे गये हैं। इसी प्रकार उन भावों के साथ-साथ तदनुकूल होने वाले परद्रव्य के क्रियारूप बाह्याचार को भी व्यवहार का निमित्त देखकर व्यवहारचारित्र कहा जाता है, ऐसा उन-उन भावों के साथ बाह्याचार का निमित्त-नैमित्तिक मेल है।

ऐसा नहीं बन सकता कि मुनिराज को अदंतधोवनव्रत का विकल्प हो और शरीर से दन्तधोवन रूप क्रिया हो जावे। बाह्य शरीरादि की क्रिया अंतरंग के रागभाव की निश्चित रूप से द्योतक है, अतः कोई स्वच्छंदी मिथ्यादृष्टि ऐसा कहे कि हमारे तो अन्तरंग में वस्त्रादिक रखने का भाव नहीं है फिर भी वस्त्रादि रहने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि वस्त्रादि का रहना व हटना तो परद्रव्य की क्रिया है, ऐसा कहने वाला अज्ञानी, निश्चय-व्यवहार की सन्धि को नहीं समझकर अपनी स्वच्छन्द वृत्ति का पोषण करता है।

बाहर में शरीरादि की क्रिया होती है, तदनुकूल अन्तरंग में राग परिणाम होता ही होता है, ऐसी ही व्याप्ति है, लेकिन अन्तरंग राग परिणति के अनुकूल बाहर की क्रिया हो ही हो, ऐसी व्याप्ति नहीं है। अतः अन्तरंग में मूलगुण सम्बन्धी शुभ राग के साथ तदनुकूल शरीरादि की बाह्य क्रिया होगी ही, इसी व्याप्ति के कारण बाह्य क्रिया को भी व्यवहारचारित्र कहने की पद्धति है।

किन्तु जिसको व्यवहारचारित्रदशा अर्थात् अट्ठाईस मूलगुण के विकल्प एवं तदनुकूल निर्दोष बाह्य क्रिया हो उसको निश्चयचारित्र हो ही हो, ऐसा

(१८)

नियम नहीं है। इसलिए सम्यक्त्व रहित जीव के निश्चयचारित्र के अभाव में यथार्थ मुनिदशा (भावलिंग) नहीं है, वरन् मिथ्यात्वसहित का द्रव्यलिंगीपना मात्र ही है।

द्रव्यलिंग भी चार तरह का होता है- (१) अंतरंग में प्रथम गुणस्थान बाहर में २८ मूलगुण सहित नग्नता (२) अन्तरंग में चौथा गुणस्थान, बहिरंग में मुनिदशा (३) अन्तरंग में पाँचवा गुणस्थान बाहर में मुनिदशा (४) अन्तर में छठा-सातवाँ गुणस्थान बाहर में निरतिचार मुनिदशा। इनमें चौथी दशा ही यथार्थ है तथा पहला द्रव्यलिंगपना तो मात्र संसार का ही कारण है।

इस सारे कथन का तात्पर्य है कि दिगम्बरत्व के साथ-साथ ज्ञानानन्दी,: ध्रुव आत्मतत्त्व के आश्रय से उत्पन्न निर्मल आत्मानुभूति सहित तीन कषाय के अभावरूप निश्चय चारित्र को प्राप्त सातवें, छठवें गुणस्थान में झूलने वाले तथा शास्त्रविहित २८ मूलगुणों के शुभ विकल्प रूप व्यवहारचारित्र एवं तदनुकूल बाह्य क्रियाओं सहित मुनिदशा को प्राप्त मुनिराज ही सच्चे साधु परमेष्ठी हैं।

मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण

अब प्रवचनसार गाथा २०५ में वर्णित बहिरंग लिंग में २८ मूलगुणों का समावेश होता है अर्थात् मुनिराज को २८ मूलगुणों का पालन निरतिचार रूप से अवश्यमेव होता ही है। अतः इन क्रियाओं एवं भावों के माध्यम से मुनिराज की अन्तरंग मुनिदशा का अनुमान सहज ही हो जाता है। अतः उनका स्वरूप समझना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

मुनिराज के पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियजय, षट् आवश्यक तथा शेष सात गुण- अदंतधौवन, केशलुंचन, नग्नता, अस्नान, भूमिशयन, एकभुक्ति एवं खड़े-खड़े आहार लेना, ये अट्ठाईस मूलगुण होते ही हैं।

पाँच महाव्रत

१. अहिंसा महाव्रत :- छठवें गुणस्थान की भूमिका में- प्रमत्तदशा में स्थित मुनिराज के अनन्तानुबंधी आदि तीन कषाय के अभाव के फलस्वरूप वीतराग भावरूप निर्मल चारित्र की अन्तर्दशा प्रकट होने से व स्वभाव का घात नहीं होने से निश्चय से अहिंसा महाव्रत है।

साथ में ऐसे मुनिराज को छह काय के जीवों की रक्षा करने एवं किसी को भी कष्ट नहीं पहुँचाने रूप शुभभाव भी समय-समय पर होता है, वह व्यवहार से अहिंसा महाव्रत कहलाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति ये पाँच स्थावर तथा दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और संज्ञी-असंज्ञी के भेद से दो प्रकार के पंचेन्द्रिय- ये सब छह काय के जीव कहलाते हैं। मुनिराज को इन छह काय के जीवों की रक्षा का भाव बिना हठ के सहज ही आता है, इसके विपरीत भाव सहज ही नहीं आता।

२. सत्य महाव्रत :- इसी प्रकार छठवें गुणस्थान की प्रमत्तदशा में स्थित मुनिराज को तीन कषाय के अभाव के फलस्वरूप वीतराग चारित्र की निर्मल अन्तर्दशा होने से बोलने का भाव ही न होना, वरन् उन विकल्पों को तोड़कर स्वरूप में मग्न रहना निश्चय सत्य महाव्रत है, तथा इसके साथ-साथ समय-समय पर हित-मित-प्रिय सत्य वचन बोलने का शुभभाव अर्थात् जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा ही बोलना सत्य महाव्रत है, और वही वचन संसारमार्ग से छुड़ाकर मोक्षमार्ग प्राप्त कराने वाला होने से हित-मित एवं प्रिय वचन है, इसलिए व्यवहार से सत्य महाव्रत कहलाता है। मुनिराज को असत्य व कटु वचन बोलने के अशुभ भाव का तो अस्तित्व ही नहीं है।

३. अचौर्य महाव्रत :- मुनिराज के छठवें गुणस्थान की भूमिका में चोरी के भावरूप अशुभभाव का सर्वथा अभाव होने से बिना पूछे पर-वस्तु को ग्रहण करने का तो भाव ही उत्पन्न नहीं होता। हाँ ! संयम, शुद्धि व ज्ञान के साधनभूत

पिच्छि-कमण्डलु व शास्त्र को ग्रहण करने का शुभभाव होता है, सो वह भी श्रावकों द्वारा दिया जाने पर ही ग्रहण करते हैं। यह व्यवहार से अचौर्य महाव्रत कहलाता है। इसके साथ-साथ इस ग्रहण-त्याग के विकल्प को भी तोड़कर मुनिराज जब अन्तर्मग्न हो निर्विकल्प स्वरूप की साधना करते हैं, अपने भगवान आत्मा में एकाग्र होते हैं, तब चारित्र की निर्मल परिणति रूप वीतरागभाव या शुद्धभाव होता है, उसे अचौर्य महाव्रत कहते हैं।

४. **ब्रह्मचर्य महाव्रत** :- ब्रह्म अर्थात् आत्मा, उसमें चर्या-रमण करना ही निश्चय से ब्रह्मचर्य महाव्रत है, तथा मुनिराज अपने आत्मानन्द का क्षण-क्षण में आस्वादन करते हैं, अतः छठवें गुणस्थान रूप प्रमत्तदशा में उनको किसी भी सचेतन अथवा अचेतन-काष्ठ, पाषाणादि की प्रतिमारूप स्त्री के प्रति सहज ही किसी प्रकार की चर्चा-वार्ता या सम्पर्क करने के विकल्परूप अशुभ राग भाव की उत्पत्ति ही नहीं होती अर्थात् वे आगम कथित सभी प्रकार के दोषों से रहित ब्रह्मचर्य महाव्रत का निरतिचार पालन करते हैं- ऐसा शुभभाव व्यवहार ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है, तथा इन सब विकल्पों को भी तोड़कर चिद-ब्रह्म में रमना निश्चय ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

५. **अपरिग्रह महाव्रत** :- तीन कषाय के अभावात्मक दशा में वर्तती हुई अन्तरंग वीतराग परिणति ही मुनिराज का निश्चय अपरिग्रह महाव्रत है, साथ ही बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह ग्रहण न करने का शुभभाव तथा बाह्य परिग्रह के अग्रहण रूप सहज वृत्ति व्यवहार अपरिग्रह महाव्रत है।

मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं, तथा क्षेत्र (जमीन), वस्तु (मकान), चाँदी, सोना, धन, धान्य (अनाज), दासी, दास, वस्त्र और बर्तन, ये दश बहिरंग परिग्रह हैं।

मुनिराजश्री के मिथ्यात्व परिग्रह का तो पूर्ण अभाव होता ही है, क्योंकि चौदह अन्तरंग परिग्रहों में सबसे पहला परिग्रह मिथ्यात्व को ही कहा गया है। अत: जब तक परद्रव्यों में अपनापन मानना ही नहीं छूटेगा तो कोई भी परिग्रह का त्याग किस प्रकार सिद्ध होगा ? परिग्रह का लक्षण ही उमास्वामी आचार्य ने तत्वार्थसूत्र में "मूर्छा परिग्रहः" ही किया है। अत: मूर्च्छाभाव, ममत्वभाव, पर को अपना मानने का भाव- ये सब एकार्थवाची हैं। अत: मुनिराज को मिथ्यात्व के अभाव के साथ ही अन्य सभी परिग्रहों का अभाव वर्तता ही है। यहाँ अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान सम्बन्धी क्रोधादि परिग्रहों का भी अभाव हो जाता है। बाह्य परिग्रहों में संयम के साधन पिंछी और कमण्डलु एवं ज्ञान के साधन स्वाध्याय हेतु कदाचित् शास्त्र ही रखने की शास्त्रोक्त मर्यादा है, अन्य कोई तिल-तुषमात्र भी परिग्रह साधु के पास होता ही नहीं, वे रखते भी नहीं हैं, क्योंकि उन्हें रखने का भाव ही नहीं होता, अन्य कोई रखे तो उसका अनुमोदन भी नहीं करते तथा उनका उपयोग भी नहीं करते, एवं उनकी संयोजना में भी अपने उपयोग को किंचित् मात्र भी नहीं जाने देते।

पाँच समिति

६. ईर्या समिति :- प्रमत्तदशा में स्थित मुनिराज को भी निष्प्रयोजन तो गमनागमन का विकल्प आता ही नहीं है, प्रयोजनवश जब कभी आता भी है तो सूर्य के प्रकाश एवं प्रासुक भूमि में किसी भी जीव को बाधा न पहुँचे, इसलिए चार हाथ आगे जमीन देखकर चलने का भाव उठता है और तदनुसार ही गमनागमन होता है। उनके इस शुभभाव एवं शुभक्रिया को व्यवहार से ईर्यासमिति कहते हैं तथा उसी समय उसके साथ में रहने वाली वीतराग परिणति रूप शुद्धि, निश्चय ईर्यासमिति है।

७. भाषा समिति : - प्रमत्तदशा में स्थित मुनिराज को निष्प्रयोजन तो बोलने का भाव ही नहीं आता, प्रयोजनवश कदाचित् बोलने का भाव आता है तो हित-मित-प्रिय वचन बोलने का भाव ही आता है, तदनुसार ही वे बोलते

हैं। वह भाव और बोलना व्यवहार भाषा समिति है तथा उसके साथ रहने वाली वीतराग परिणतिरूप शुद्धि, निश्चय भाषा समिति है।

८. **ऐषणा समिति** :- प्रमत्तदशा स्थित मुनिराज को जब ध्यान-अध्ययन में बाधक क्षुधा की बाधा उत्पन्न होती है, तब सहज ही दिन-दिन में ४६ दोषों से रहित अनुद्दिष्ट, शुद्ध-प्रासुक आहार लेने का विकल्प उठता है तथा आगमानुकूल विधि से आहार के लिए निकलते हैं। यदि आगमानुकूल नियमानुसार भोजन प्राप्त होता है तो खड़े-खड़े अत्यन्त उपेक्षावृत्ति से आहार लेकर अथवा नहीं मिलने पर बिना लिये ही वापिस आ जाते हैं व आहार मिलने अथवा न मिलने का सहज ही कोई हर्ष-विषाद नहीं होता। यह व्यवहार ऐषणा समिति है और इसके साथ रहने वाली वीतराग परिणति निश्चय ऐषणा समिति है।

९. **आदाननिक्षेपण समिति** :- उक्त मुनिराजश्री कल्याण के साधन शास्त्र, दया और संयम के उपकरण पीछी-कमण्डलु उठाने, रखने एवं स्वयं उठने-बैठने-सोने का भाव आता है तो कोई जीव का घात न हो जाय- इस भावना के साथ ही आता है और सहज ही क्रिया भी तदनुसार ही होती है, इनका यह भाव और क्रिया व्यवहार आदाननिक्षेपण समिति है। साथ में रहने वाली वीतराग परिणति निश्चय आदाननिक्षेपण समिति है।

१०. **प्रतिष्ठापना समिति** :- उक्त मुनिजन को मल-मूत्रादि विसर्जन करने का भाव आता है तो कोई जीव का घात न हो जाय, इसलिए जीवजन्तु रहित भूमि को देखकर ही मल-मूत्र आदि विसर्जन करने का भाव सहज ही आता है तथा तदनुसार क्रिया भी होती है। यह व्यवहार प्रतिष्ठापना समिति है। साथ में रहने वाली वीतराग परिणति निश्चय प्रतिष्ठापना समिति है।

पंचेन्द्रियजय

ऊपर लिखे १० मूल गुणों में से पाँच महाव्रत करने योग्य एवं पाँच समिति पालने योग्य कही जाती हैं, लेकिन पाँच इन्द्रियों को जीतने योग्य कहा

जाता है। इसमें सहज ऐसा आभास होता है कि पाँच इन्द्रियों को जीतने में जैसे कोई विशेष प्रकार का संघर्ष अवश्यम्भावी हो, अत: इस विषय के लिये गम्भीर गवेषणा अपेक्षित हैं।

सामान्यतया पाँच इन्द्रियों के जीतने का अर्थ यही निकाला जाता है कि (१) अन्दर में कामवासना जागृत होने पर भी तत्सम्बन्धी उस इन्द्रिय की पूर्ति नहीं होने देना, (२) रसना इन्द्रिय की तृप्ति की इच्छा उठने पर भी जिह्वा की पूर्ति के विषय उपयोग नहीं करना, (३) घ्राणइन्द्रिय की वासना जागृत होने पर भी उसकी पूर्ति नहीं करना, (४) चक्षुइन्द्रिय की वासना उठने पर भी उसकी पूर्ति नहीं करना, (५) इसी प्रकार कान को अच्छे लगने वाले शब्दों की सुनने की कामना होने पर भी उनका संयोग नहीं मिलने देना आदि-आदि को ही सामान्यतया इन्द्रियविजय माना जाता है, लेकिन मात्र यह मानना सही नहीं है, कारण, अगर यही मान्यता ठीक हो तो आंख फोड़ लेना, कान फोड़ लेना आदि-आदि शरीर के अंगों को काट देने से ही इन्द्रियविजय मान लेना होगा, लेकिन ऐसा तो कोई बुद्धिशाली मानने को तैयार नहीं होगा, अत: सहज ही यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि फिर-इन्द्रियजय किसे कहा जाय ?

समाधान यह है कि पाँचों इन्द्रियाँ विद्यमान रहते हुए भी, उन-उन इन्द्रियों के अच्छे अथवा बुरे लगने वाले विषय विद्यमान रहते हुए भी अन्दर से उन-उन विषयों को प्राप्त करने सम्बन्धी अथवा दूर हटाने सम्बन्धी भाव ही अन्दर में उत्पन्न न हों अर्थात् वे पाँचों इन्द्रियों के विषय कोई इष्ट-अनिष्ट ही नहीं लगें तो ही उसने इन्द्रियों को जीता- ऐसा माना जाने योग्य है, कारण अगर उन विषयों को प्राप्त करने अथवा दूर करने का भाव पैदा हो गया तो तत्सम्बन्धी राग-द्वेष तो उत्पन्न हो ही गया, तब उसने इन्द्रियों को नहीं जीता, बल्कि इन्द्रियों ने उसको जीत लिया; क्योंकि तत्सम्बन्धी राग-द्वेष पैदा करा दिया, चाहे वह अपनी इन्द्रियों का भोग प्राप्त कर सके अथवा नहीं कर सके। अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि मात्र इन्द्रियों द्वारा भोग नहीं होने देने का नाम ही इन्द्रियजय

नहीं है लेकिन तत्सम्बन्धी भाव ही खड़े नहीं होने देना यथार्थतया इन्द्रियजय है।

फिर प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम व्यवहारी जनों को इन्द्रियाँ रहते हुए भी तत्सम्बन्धी भाव उत्पन्न होना कैसे रुक सकता है ? उसके उत्तरस्वरूप भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव ने समयसार गाथा 31 में कहा है कि-

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधिंय मुणदि आदं।
तं खलुजिर्दिदियं ते भणात जे णिच्छिदा साहू॥

अर्थात् जो इन्द्रियों को जीतकर ज्ञानस्वभाव के द्वारा आत्मा को अन्य द्रव्य से अधिक जानते हैं, उन्हें जो निश्चय में स्थित साधु हैं वे वास्तव में जितेन्द्रिय कहते हैं।

उपरोक्त गाथा की टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने स्पष्ट किया है कि यथार्थतया ये पौद्गलिक शरीर के आकार रूप पाँच इन्द्रियाँ तो पुद्गल द्रव्य पर्याय हैं, आत्मा से अलग पदार्थ हैं, इनका तो कर्ता-धर्ता आत्मा हो ही नहीं सकता है। वे तो इस ज्ञायक परमात्मा के ज्ञेय मात्र हैं। इसी प्रकार इन इन्द्रियों के विषयभूत सामग्री भी प्रकट रूप से भिन्न पदार्थ होने से मात्र ज्ञेय ही हैं। ज्ञेय कोई भी भला-बुरा होता ही नहीं है, ज्ञेय तो मात्र जानने योग्य ही है, अतः ऐसा मान लेने मात्र से ही उन सामग्रियों को भोगने एवं दूर करने के भाव ज्ञानी जीव को, स्वतः ही स्वयं को, अपनी भूल दिखने लगती है, साधु परमेष्ठी की तो उत्कृष्ट साधक दशा होने से उनको पाँचों इन्द्रियों को भोगने अथवा दूर करने सम्बन्धी भाव उठना सहज ही बिना हठ के रुक जाता है, यही साधु परमेष्ठी का वास्तविक इन्द्रियजय नाम का मूलगुण है।

११. स्पर्शनेन्द्रियजय :- प्रमत्तदशा स्थित मुनिराज को स्पर्शनेन्द्रिय के अनुकूल एवं प्रतिकूल संयोगों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना सहज नहीं होती, अतः तज्जन्य रागादि व क्रिया का होना सहज ही रुक जाता है, यही स्पर्शनेन्द्रियजय है।

१२. रसनेन्द्रियजय :- प्रमत्तदशा स्थित मुनिराज को रसनाइन्द्रिय को अच्छे-बुरे लगने वाले चारों प्रकार के आहार तथा पाँचों प्रकार के रसों में सहज ही इष्ट-अनिष्ट कल्पना नहीं होती, अत: तज्जन्य होने वाले रागादि एवं शारीरिक क्रिया भी रुक जाती है, इसी को रसनेन्द्रियजय कहते हैं।

१३. घ्राणेन्द्रियजय :- उक्त मुनिराज को सुगन्ध व दुर्गन्ध का योग बनने पर उन्हें सहज ही ज्ञेयमात्र जानकर उनके प्रति इष्ट-अनिष्ट कल्पना का न होना ही घ्राणेन्द्रियजय है।

१४. चक्षुइन्द्रियजय :- उक्त मुनिराज को अच्छे लगने वाले सुन्दर मनोज्ञ एवं चक्षु को अच्छे नहीं लगने वाले असुन्दर-अमनोज्ञ आदि सचित्त या अचित्त क्रियाओं का संयोग होने पर उन्हें सहजरूप से ज्ञेयमात्र जानकर इष्ट-अनिष्ट कल्पना नहीं होना ही चक्षुइन्द्रियजय है।

१५. श्रोत्रेन्द्रियजय:- उक्त मुनिराज को कानों को प्रिय लगने वाले सुस्वर से गायन, हंसना, रागवर्द्धक, प्रशंसात्मक वार्तालाप आदि तथा कर्ण को बुरे लगने वाले दुस्वर से गायन, रोना चिल्लाना आदि संयोग मिलने पर सहज ही ज्ञेय जानकर उनके प्रति इष्ट-अनिष्ट कल्पना नहीं होना हर श्रोत्रेन्द्रियजय है।

इस प्रकार भावलिंगी मुनिराज को पाँचों इन्द्रियों के विषयों के प्रति इष्ट-अनिष्ट कल्पना सहज ही उत्पन्न नहीं होती, इसलिए उनको पंचेन्द्रियजयी कहा जाता है।

मुनिराज को २८ मूलगुणों में षट् आवश्यक रूप में नित्य सहज स्वाभाविकतया प्रात: मध्यान्ह एवं सायंकाल तीनों काल निम्न छह आवश्यक क्रियाएँ होती है- उपरोक्त १५ मूलगुण तो बाह्य संयोग (निमित्त) मिलने पर तत्संबंधी रागादिभाव नहीं होने देने की मुख्यता से हैं और ये आवश्यक कर्म स्वत: करने के भाव उत्पन्न होने की अपेक्षा से हैं, १५ मूलगुण से विपरीत विकल्प अर्थात् भाव उत्पन्न होना साधु का दोष है लेकिन ये छह आवश्यक रूप मूलगुण के विकल्प यानि भाव सहज रूप से उत्पन्न नहीं होना मुनिदशा

का घातक है, अर्थात् मुनिराज को छह आवश्यक कर्म करने के विकल्प सहजरूप से उत्पन्न हुए बिना नहीं रहते। फलतः मुनिराज का बहुभाग काल इन आवश्यक कर्मों के फलस्वरूप ध्यानावस्था में ही जाता है।

१६. सामायिक :- मुनिराज अपने उपयोग की बहिर्मुख दशा में भी एक ज्ञायक परमात्मा निज स्वरूप की ही मुख्यता होने के कारण ज्ञेय मात्र से उपेक्षित वृत्ति द्वारा सबमें समताभाव जागृत रखते हैं, इस ही का नाम सामायिक आवश्यक है। व्यवहार से इस ही को सब जीवों के प्रति समताभाव रूप सामायिक कहा जाता है।

१७. स्तवन :- अपनी अधूरी दशा का ख्याल होने के कारण पूर्णता प्राप्त करने का मूल आधार निज परमात्मा उसकी महिमा लाकर अपने उपयोग को उस ही में टिकाने का प्रयास करते हैं, साथ ही पूर्ण दशा को प्राप्त हो गए ऐसे अरिहंत, सिद्ध परमात्माओं के प्रति अत्यन्त आदर होने से उनका स्तवन होता है, उसको व्यवहार से स्तवन नाम का आवश्यक कहा जाता है।

१८. वन्दन :- उपरोक्त स्तवन के साथ-साथ ही अपने निज-स्वरूप में अपने उपयोग को झुकाना-टिकाना यह निश्चय वंदन है, साथ ही पूर्ण दशा को प्राप्त ऐसे परमात्मा के प्रति वंदन का सहज भाव होना, वह व्यवहार वंदन है।

१९. आलोचन प्रतिक्रमण :- अपनी भूमिका में सहज उत्पन्न होने वाले रागभाव रूपी विकल्पों के प्रति आत्मा का उपयोग ज्ञायक-भाव की मुख्यता के द्वारा हटाकर आत्मा को जोड़ना, वह निश्चय आलोचना है। साथ ही अपने दोषों को छोड़ना- इसको व्यवहार से आलोचना कहा जाता है।

२०. प्रत्याख्यान :- उपरोक्त आलोचना के साथ ही अपने पुरुषार्थ को जागृत करके अपने उपयोग को बाहर नहीं जाने देने का संकल्प ही भविष्य की रागोत्पत्ति को रोकने रूप प्रत्याख्यान है। साथ ही भविष्य में कोई दोष नहीं लगने देने का संकल्प ही व्यवहार प्रत्याख्यान है।

२१. कायोत्सर्ग :- उपरोक्त पाँचों आवश्यक के पश्चात् मुनिराज का उपयोग एकदम हल्का हो जाता है, अत: आत्मा में ही रमने-जमने की तैयारी हो जाती है। अत: मुनिराज काया से भी उपयोग को हटाकर ध्यान में आरूढ़ हो जाते हैं, इसी का नाम कायोत्सर्ग आवश्यक है।

इस प्रकार छह आवश्यक कर्मों की विवेचना हुई। अब मुनिराज को सहज स्वाभाविकतया मुनिदशा के अविनाभूत ७ मूलगुण और होते हैं। चरणानुयोग कथन पद्धति तो इस प्रकार ही होती है कि मुनिराज को २८ मूलगुण धारण करना चाहिए, लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी है कि जो छठवे-सातवें गुणस्थान में झूलने वाली मुनि दशा होती है, उसमें इससे विपरीत क्रिया करने के भाव सहज ही उत्पन्न नहीं होते, वरन् इन २८ मूलगुणों के पालन करने के ही विकल्प आते हैं, ऐसा सहज अविनाभावी सम्बन्ध है। उसी को चरणानुयोग में, 'करना चाहिए', ऐसा विवेचन करने की पद्धति है।

अत: मुनिराज को शरीर के सम्बन्ध में निम्न सात प्रकार के विकल्प उठते हैं और उनके अनुरूप ही शरीर की दशाएँ वर्तती हैं।

२२. अदंतधोवन :- मुनिराज को दांत-मुंह आदि साफ करने के भाव ही उत्पन्न नहीं होते।

२३. केशलुंचन :- सिर के बाल आदि सँवारने के भाव नहीं होते, लुंचन करके निकाल देने के ही भाव होते हैं।

२४. नग्नता :- शरीर पर कोई प्रकार का वस्त्र आदि रखने का भाव ही नहीं होता, अत: शरीर नग्न ही होता है।

२५. अस्नानता :- स्नान आदि के द्वारा शरीर को स्वच्छ करने का भाव ही उत्पन्न नहीं होता।

२६. भूमिशयन :- शरीर के प्रति ममता नहीं रहने से कंकड़-पत्थर आदि कैसी भी भूमि हो, भूमि पर ही शयन करने का भाव होता है।

२७. एकभुक्ति :- ध्यान-अध्ययन में बाधकरूप क्षुधा के कारण भोजन करने का भाव जब उत्पन्न होवे तो ध्यान-अध्ययन में स्थिरता प्राप्त करने के लिए भोजन के विकल्प को खतम करने के लिए निकलते हैं, मिल जाने पर निर्दोष एवं ध्यान-अध्ययन में साधक ऐसा आहार लेते हैं। कदाचित् न मिलने पर आगामी नियत काल के लिए उस विकल्प से छुट्टी मिल जाने से शांति प्राप्त कर ध्यान-अध्ययन में लीन हो जाते हैं।

२८. खड़े-खड़े आहार :- आहार लेना ही पड़े तो मुनिराज आसक्ति को टालने के लिए निज करपात्र द्वारा खड़े-खड़े ही आसक्ति-रहित होकर अल्प आहार लेकर तत्सम्बन्धी विकल्प को तोड़कर आत्म-ध्यान में लीन होने की चेष्टा में निरन्तर रहते हैं।

उपसंहार

उपरोक्त प्रकार के २८ मूलगुण मुनिराज में सहज ही वर्तते हैं। उनको कुछ खींचकर (हठपूर्वक) नहीं करने पड़ते। मुनिराज को तीन कषाय के अभावात्मक जो आत्मस्थिरता निरन्तर वर्तती है उसके साथ ही उपयोग जब आत्मा के बाहर निकलता है तो उस उपयोग के साथ उठने वाले राग की मर्यादा बताने वाले ये २८ मूलगुण हैं अर्थात् इन मूलगुणों को तोड़कर आत्मभाव उठें तो मुनिराज को सप्तम गुणस्थान का आत्मानुभव नहीं आ सकता। अतः मुनिराज षष्ठम गुणस्थान की भूमिका में उठने वाले अपने विकल्पों को चरणानुयोग विहित मार्ग के माध्यम में मापते रहते हैं और अपनी भूमिका के अयोग्य कोई विकल्प (रागभाव) कदाचित् उत्पन्न हो जावे तो उसे आचार्य महाराज के समीप जाकर सहज भाव से आलोचन कर योग्य प्रायश्चित विधान

के द्वारा अपने तत्सम्बन्धी विकल्प को तोड़कर हल्कापन प्राप्त कर पूर्ण पुरुषार्थ के साथ पुनः ध्यान-अध्ययन में रत हो जाते हैं। इसी प्रकार के विकल्प (रागभाव) को चरणानुयोग में अतीचार के रूप में बताया गया है और उन अतिचारों के टालने का भी उपरोक्त उपाय निरूपित किया गया है। अगर कोई साधु अतीचार रूप रागभाग उठने पर भी उपरोक्त मार्गानुसार उनका निराकरण कर अपनी परिणति को आत्मा में पुनः स्थापित न करे तो यही रागभाव अनाचार का रूप प्राप्त कर लेता है और वह मुनिराज मुनिपने का घात कर लेता है अर्थात् बाह्य नग्नदशा रहते हुए भी वह परम दुर्लभता से प्राप्त अपूर्व मुनिदशा का नाश कर देता है।

उपरोक्त यथार्थ मुनिदशा तो साक्षात् साधना एवं धर्म की मूर्ति है, उनको तो चलते-फिरते सिद्ध भी कहा जाता है। उनके दर्शन मात्र से ही आत्मसाधना का परम पुरुषार्थ जागृत होता है एवं भावना उठती है कि-

ते गुरु मेरे उर बसो तारण तरण जहाज।

आप तरें पर तारहीं, ऐसे श्री ऋषिराज॥ ते गुरु मेरे.....

अतः वीतरागता के उपासक साधक पुरुष को वीतरागता में रमणता करते हुए उपरोक्त अन्तरंग एवं बहिरंग दशा प्राप्त मुनिराज को, अपने में वीतरागता की वृद्धि के लिए, एवं वीतराग परिणति के प्रोत्साहन के लिए, ऐसे साधु परमेष्ठी के प्रति परम श्रद्धावान होकर पुरुषार्थ जागृत करना चाहिए।

जिनका स्मरण करने मात्र से ही रोमांच होने लगता है- ऐसे साधु परमेष्ठी को मेरा अत्यन्त-अत्यन्त भावपूर्ण नमस्कार हो।

णमो लोए (त्रिकालवर्ती सव्व) साहूणं।

२६. भूमिशयन :- शरीर के प्रति ममता नहीं रहने से कंकड़-पत्थर आदि कैसी भी भूमि हो, भूमि पर ही शयन करने का भाव होता है।

२७. एकभुक्ति :- ध्यान-अध्ययन में बाधकरूप क्षुधा के कारण भोजन करने का भाव जब उत्पन्न होवे तो ध्यान-अध्ययन में स्थिरता प्राप्त करने के लिए भोजन के विकल्प को खतम करने के लिए निकलते हैं मिल जाने पर

मेरे कबहु, वा दिन की सुधरी.....

मेरे कबहु, वा दिन की सुधरी ॥ टेक ॥
तन बिन वसन असन बिन वन में,
निवसों नासादृष्टि धरी ॥ १ ॥
पुण्य-पाप परसौं कब विरचों,
परचों निजनिधि चिर विसरी।
तज उपाधि सजि सहज समाधि,
सहो धाम हिम मेघझरी ॥ २ ॥
कब थिर जोग धरों ऐसो मोहि,
उपल जान मृग खाज हरी।
ध्यान कमान तान अनुभव शर,
छेदों किहि दिन मोह अरी ॥ ३ ॥
कब तृन कंचन एक गिनों अरु,
मनिजड़ितालय शैल दरी।
'दौलत' सतगुरु चरन से जो,
पुरवो आश यहै हमरी ॥ ४ ॥

- कविवर दौलतरामजी